
इकाई 25 धार्मिक राजनीति

संरचना

- 25.1 प्रस्तावना
- 25.2 धार्मिक राजनीति का अर्थ एवं महत्त्व
 - 25.2.1 धार्मिक राजनीति : विविध दृष्टिकोण
- 25.3 धार्मिक राजनीति का विकास
- 25.4 हिन्दू पुनर्जागरणवाद
 - 25.4.1 राजनीतिक असंतोष में बढ़ोतरी
- 25.5 इस्लामिया दृष्टिकोण
- 25.6 धार्मिक राजनीति : एक पर्यवेक्षण
- 25.7 सारांश
- 25.8 अभ्यास प्रश्न

25.1 प्रस्तावना

धार्मिक राजनीति की अवधारणा ने समसामयिक भारत में एक अतिशयोक्तिपूर्ण महत्त्व अर्जित कर लिया है। यद्यपि धर्म एवं राजनीति दो भिन्न संकल्पनाएँ मानी जाती हैं, पारम्परिक समाज में उनका एक संश्लिष्ट अस्तित्व है और आधुनिक समाज में वे एक-दूसरे को प्रभावित करने में लगी हैं। एक साथ लिए जाने पर वे एक-दूसरे पर एक गहरा प्रभाव डालने हेतु असीम संभावना रखती हैं। मानवजाति की सामाजिक प्रक्रिया को प्रभावित करने में धर्म एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है और ऐसा विलोमतः भी सत्य है। जन संघटन में यह एक महत्त्वपूर्ण कारक रहा है, न सिर्फ राष्ट्रीय आन्दोलनों के दौरान बल्कि आधुनिकता की ओर अभिमुख अल्पकालिक चरणों में भी। भारत जैसे लोकतांत्रिक राज्य में, धर्म परम्परागत समाज के सारभाग का निर्माण करता है और जनमानस पर अपने प्रभाव का उपयोग जारी रखे हुए है। प्रायः विभिन्न समुदायों के बीच संघर्ष को प्रवृत्त करते हुए यह घनिष्ट संबंध सामाजिक असामंजस्य एवं अनैक्य में भी परिणत होता है। धार्मिक संगठन राजनीतिक समूहों से अन्तर्क्रिया करते हैं और जनता के किसी वर्ग विशेष पर अधिकार जताते हुए अपने समर्थनाधारों को बढ़ाने का प्रयास करते हैं। इन धार्मिक समूहों का समर्थन अक्सर राजनीतिक राज्य-प्रणाली की शक्ति को निर्धारित करता है। यह इकाई धार्मिक राजनीति की संकल्पना, तथा उससे जुड़े अनेक आयामों, जैसे हिन्दू पुनर्जागरणवाद व इस्लामिया पहलू, की पूरी जानकारी प्रस्तुत करती है।

25.2 धार्मिक राजनीति का अर्थ एवं महत्त्व

धार्मिक राजनीति का अर्थ दो बातों में से एक हो सकता है। प्रथम, यह एक ऐसी स्थिति है जहाँ धर्म स्वयं राजनीतिक अभिव्यक्ति एवं राजनीति के उद्देश्य को स्पष्ट करने का आधार बन जाता है। यह धर्म स्वयं ही एक प्रकार की राजनीति बन जाता है, उदाहरण के लिए, राष्ट्रवाद को परिभाषित करने के लिए अथवा किसी राजनीतिक कार्य-योजना का प्रारूप तैयार करने के लिए धार्मिक परम्परा की पुनर्व्याख्या। इनमें अनेक भिन्नताएँ हो सकती हैं, जैसा कि हम आगे इस इकाई में पढ़ेंगे। दूसरे, धार्मिक राजनीति का अर्थ भी होता है

जहाँ धर्म को लोगों के राजनीतिक संघटन हेतु आधार रूप में प्रयोग किया जाता है। संस्थाएँ अथवा पर्व एवं धर्म से जुड़ी अन्य बातें लोगों से राजनीतिक अपील करने का आधार बन जाती हैं। उदाहरण के लिए, लोगों की सियासी लामबन्दी हेतु मन्दिरों एवं मस्जिदों का प्रयोग अथवा गणेश पूजा जैसे किसी धार्मिक पर्व का प्रयोग धार्मिक राजनीति का एक अन्य रूप है। ये दोनों ही प्रकार की धार्मिक राजनीतियाँ हमारे समाज में बड़ी आम हैं। दरअसल, इनका इतिहास सौ साल से भी पुराना है परन्तु आज के जमाने में, इनको मुख्यधारा राजनीति का दर्जा प्राप्त है।

धर्म और राजनीति संबंधी संकल्पना का भिन्न संदर्भ है। यह इस समस्या की ओर इशारा करती है कि इन दोनों के बीच क्या संबंध होना चाहिए, यथा एक ओर धर्म और दूसरी ओर राजनीति के बीच। इसमें, अतएव, धर्मनिरपेक्षता और हम उससे किस प्रकार पूर्वाभिमुख हैं संबंधी प्रश्न भी शामिल हैं। यदि हम धर्म निरपेक्षता को स्वीकार करते हैं, जैसा कि राष्ट्रीय आन्दोलन ने किया, तब प्रश्न उठता है कि कैसे और किस तरीके से राजनीति को स्वायत्त अथवा धर्म-मुक्त रखें; यह किसी प्रदत्त समाज, मान लीजिए हमारे ही समाज की भाँति, हेतु धर्मनिरपेक्षवाद के किसी रूप को विकसित करने का सवाल भी है। उपयुक्त दो नियत स्थितियाँ कभी एक जैसी नहीं होतीं। प्रोटैस्टैण्ट चर्चों के प्रचुरोद्भव वाले अमेरिका जैसी स्थिति में, धर्मनिरपेक्षवाद को भारत के मुकाबले एक भिन्न प्रकार के समस्या-समूह से निबटना होता है, जहाँ हमारा समाज एक प्राचीन बहु-धार्मिक समाज है। अतः यह प्रश्न कि धर्म व राजनीति स्वयं को किस प्रकार प्रस्तुत करते हैं, समाज-समाज में एवं समय-समय पर भिन्न-भिन्न होता है।

स्वतंत्रता के प्रथम 30 वर्षों में, राजनीति और धर्म के बीच संबंध अब से एक भिन्न प्रकार का था। धर्म राजनीति के लिए उपातिक महत्त्व का था और राजनीति धर्म से स्वतः मुक्त थी। 1980 के दशक-मध्य से यह प्रभावशाली रूप से बदल गया है इस लिहाज से कि एक विचारधारा के रूप में हिन्दुत्व समाज व राजनीति में और 1998 से सरकार में भी एक प्रभावी बल बन गया है। अतः सावैधानिक आदर्शों की भाषा में धर्म व राजनीति के बीच संबंध को किस नज़र से देखा जाए संबंधी प्रश्न बदल चुका है। धर्मनिरपेक्षता, नागरिक अधिकार, नागरिकता, लोकतंत्र, आदि पर केन्द्रित विषय हिन्दुत्व से उस प्रकार के प्रत्युत्तर का आह्वान नहीं करते जैसा कि उनका आशय स्वतंत्रता संघर्ष के दौरान था। स्पष्टता की खातिर इस भेद को स्थापित करके हम सिर्फ ऊपर परिभाषित धार्मिक राजनीति पर नज़र डालेंगे। चूँकि राजनीति एवं धर्म के बीच भेद एक प्रकार के राष्ट्रवाद और राजनीतिक अपीलों में सिमट चुका है, अब हम देश में धार्मिक राजनीति का प्राधान्य पाते हैं।

25.2.1 धार्मिक राजनीति : विविध दृष्टिकोण

धार्मिक राजनीति, जैसा कि हमने देखा, राजनीति का वास्तविक अर्थ और कार्यसूची प्रदान करती है, यथा, राजनीति की विषयवस्तु किसी न किसी धर्म अथवा धार्मिक समुदाय द्वारा स्वयं निर्धारित की जाती है। यह, इसी कारण, सिर्फ उस धार्मिक समुदाय से संबंध रखने वालों को ही अच्छी लग सकती है। धार्मिक राजनीति एक ही साथ हिन्दुओं, मुसलमानों व ईसाइयों की राजनीति नहीं हो सकती। वह सिर्फ किसी एक अथवा दूसरे धर्म के अनुयायियों से संबंध रख सकती है या उन्हें अच्छी लग सकती है। वह राजनीति जो उस बात का पक्ष लेने का प्रयास करती है जिसको मुस्लिम पहचान माना जाता है अथवा वह राजनीति जो हिन्दुओं के लिए एक नई और भिन्न पहचान बनाने की दिशा में काम करती है, जैसा कि अब हो रहा है, ज़ाहिर तौर पर दूसरे समुदाय को अच्छी नहीं लग सकती है। यह बात तब भी रहती है जब वह अपने आप को राष्ट्रवाद के रूप में पेश करती है, मसलन हिन्दुत्व स्वयं को "सांस्कृतिक राष्ट्रवाद" कहता है। सारतः यह बहुमतवादी धार्मिक राजनीति बन रही है। धार्मिक राजनीति, इसीलिए, हमेशा साम्प्रदायिक राजनीति अथवा सम्प्रदायवाद के रूप में रहती है, जैसा कि इसे हमारे देश में लिया जाता है। ऐसा सिर्फ भारत के साथ ही नहीं है; पाकिस्तान में मुत्तेहदा कौमी महज़ अथवा इस मन्तव्य हेतु किसी अन्य देश के साथ भी ऐसी ही बात है।

इससे पहले कि हम आगे बढ़ें, एक स्पष्टीकरण यहाँ आवश्यक है। कोई धर्माग्रह मात्र धार्मिक राजनीति की ओर प्रवृत्त नहीं करता। उदाहरण के लिए, कोई व्यक्ति हिन्दू हो सकता है परन्तु हिन्दुत्व की व्याख्या अथवा अर्थ निर्णय जो वह स्वीकार करता है, ही राजनीति के तात्पर्य को निर्धारित करेगा। चलिए, अपने हाल ही के इतिहास से एक उदाहरण लेते हैं। गाँधी और सावरकर दोनों ही यह मानते थे कि धर्म राजनीति को सूचित करे। परन्तु उनकी हिन्दू होने का अर्थ क्या है संबंधी व्याख्याएँ इतनी भिन्न थीं कि इसने राजनीति की दो बिल्कुल भिन्न संकल्पनाओं को जन्म दिया। गाँधीजी के विचार में आत्मिक मूल्यों को राजनीति पर प्रभाव डालना चाहिए अथवा अन्यथा राजनीति निरुपाय हो जाएगी। उन्होंने राजनीति व धर्म, दोनों का एक अन्तर्भूत दृष्टिकोण अपनाया। उन्होंने, दरअसल, हिन्दुत्व से अपने बहुत से मूल्यों को अर्जित किया परन्तु उसने उनके आत्मिक स्रोतों को समाप्त नहीं किया। ईसाइयत व इस्लाम एवं अनेक विसामान्य भक्ति उनके लिए एक समान रूप से प्रामाणिक स्रोत थे। राजनीति, उनके अनुसार, एक उद्धारक आस्थाओं का गठबंधन है। उन्होंने, इसी कारण, किसी भी धार्मिक पर्व अथवा सिद्धांत का प्रयोग राजनीतिक लामबन्दी हेतु नहीं किया यद्यपि उन्होंने अपनी शब्दावली का अच्छा-खासा भाग भारतीय धार्मिक स्रोतों से प्राप्त किया था। इसकी तुलना में, सावरकर का सोचना था कि राजनीति के हिन्दू दृष्टिकोण का आधार आत्मिक मूल्यों की बजाय प्रजाति एवं वंशक्रम, इतिहास एवं परम्परा, तथा हिन्दुओं की भूमि-पवित्रता (पुण्य भूमि) होना चाहिए। उनका विचार यह भी था कि केवल वही व्यक्ति जिनके धर्म का मूल भारत में है, ही राजनीति के इस दृष्टिकोण को स्वीकार कर सकते हैं। अन्य लोग, जैसे मुस्लिम अथवा ईसाई, भारत के प्रति अपनी निष्ठा कभी नहीं रख सकते; दूसरे शब्दों में, ये दूसरे लोग भारत को अपनी पुण्य भूमि मान ही नहीं सकते। सावरकर ने इस हिन्दूकृत राजनीति को ही हिन्दुत्व नाम दिया; उनके लेखों की सभी मुख्य बातें इस नाम की ही पुस्तक में उपलब्ध हैं। धार्मिक राजनीति का यही मुख्य उदाहरण अपनी चरम सीमा में, जाहिर तौर पर, एक अनन्यवादी राजनीति है, जैसा कि पहले निरूपित किया गया।

25.3 धार्मिक राजनीति का विकास

भारत में धार्मिक राजनीति का एक लम्बा इतिहास है, और अनन्यवादी होते हुए भी, यह एक सम्पन्न वंशावली रखती है। बहुत विस्तृत बुद्धि-प्रसार वाले कुछ महान् धार्मिक विचारकों ने भी धार्मिक राजनीति के निर्माण में योगदान किया, हालाँकि वे इस प्रकार की राजनीति के अनुयायियों में वर्गीकृत नहीं हैं। धार्मिक पुनर्जागरणवाद का इतिहास, जो कि धार्मिक राजनीति निर्माण का मध्य मार्ग है, सौ वर्षों से भी अधिक पुराना है। 19वीं सदी के अंतिम दशकों के आसपास पुनर्जागरण भावनाओं पर आधारित राजनीति देशभर पर प्रभावी होती जा रही थी, खासकर बंगाल व महाराष्ट्र में जो उस समय तक समाज-सुधार आन्दोलनों के मुख्य केन्द्र थे। पुनर्जागरणवाद पर आधारित राजनीति का यह नया मिजाज तेजी से उन सामाजिक आन्दोलनों का स्थान लेता जा रहा था जो हिन्दुत्व के भीतर अनेक प्रथाओं पर प्रश्न करने का प्रयास करते थे, जैसे बाल-विवाह, बलात् वैधव्य, महिलाओं को शिक्षा से इंकार, आदि। यह बात दिलचस्प है कि संसूचित सुधारों में से अधिकांश महिलाओं के लिए जीवन को अधिक जीने योग्य बनाते हुए, उनके प्रारब्ध से ही जुड़े थे। पुनर्जागरणवाद के उत्कर्ष और सुधार आन्दोलन के अपकर्ष का एक उदाहरण था भारत के भिन्न-भिन्न भागों से विभिन्न समाज-सुधार आन्दोलनों के एक रक्षाछत्र संगठन के रूप में, रानाडे द्वारा आरम्भ नैशनल सोशल कॉन्फ्रेंस को मिला प्रतिपादन। इसका उद्देश्य था पूरे भारतवर्ष में सुधार आन्दोलन पर चर्चा करना और उसे समन्वयन एवं प्रोत्साहन प्रदान करना एक अखिल भारतीय स्तर पर, वह भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अधिवेशनों के समान्तर ही, अपनी वार्षिक बैठक किया करती थी। एक उग्र प्रभाव वाली कार्रवाई में, कांग्रेस के 1885 के पूना अधिवेशन में बालगंगाधर तिलक ने इसकी बैठकों पर प्रतिबन्ध लगा दिया और इसे अधुना लुप्त करने का प्रयास किया। तिलक के दृष्टिकोण में इस बदलाव पर उंगलियाँ उठीं क्योंकि आम रुझान को देखते हुए अब वह बदल चुके थे

और समाज-सुधारों के खिलाफ उन्होंने एक स्पष्ट रुख अपना लिया था। जल्द ही तिलक ने सार्वजनिक गणेश पूजा को उपनिवेशवाद के खिलाफ जन-संघटन की एक मुख्य पद्धति के रूप में स्थापित कर दिया।

धर्म के समर्थन में हमारे समान में पढ़े-लिखे लोगों के बीच बदलते मिजाज का दूसरा उदाहरण था विवाह-योग्य आयु विधेयक (एज ऑव कॅन्सैट बिल) के खिलाफ बहुत चीत्कारपूर्ण, यद्यपि अल्पकालिक, अभियान। इस विधेयक ने एक साधारण-सा कदम उठाने का प्रस्ताव किया था कि लड़कियों के लिए विवाह-योग्य आयु को दस से बढ़ाकर बारह वर्ष कर दिया जाए। आज हम भौचक्के रह जाँएँगे यदि कोई व्यक्ति कुछ भी तर्क देकर इसका विरोध करे। परन्तु इसने तब जो तूफान उठाया यदि आज हम पीछे मुड़कर देखें तो चौंका देने वाला है। बंकिमचन्द्र चटर्जी एवं बालगंगाधर तिलक जैसे गणमान्य विभूतियों एवं राष्ट्रवादियों तथा ऐसे ही दूसरे लोगों ने विरोध सहगान में स्वर मिलाया। तर्क यह था कि विदेशी शासकों, अंग्रेजों, को हिन्दुओं की धार्मिक प्रथाओं में हस्तक्षेप का कोई अधिकार नहीं है। यह तर्क मिथ्या लगता है क्योंकि यह कभी स्पष्ट नहीं किया गया कि क्या लड़की का शिशु-विवाह हिन्दू प्रथा का एक आन्तरिक अभिलक्षण था अथवा तत्कालीन भारतीय समाज में प्रचलित महज एक सामाजिक प्रथा। इसकी तुलना गाँधीजी के दृष्टिकोण से करें जब अंग्रेजों ने अस्पृश्यता उन्मूलन हेतु एक प्रस्ताव रखा था। उन्होंने अविरोधी रूप से 1933 व 1935 के बीच ब्रिटिश कार्रवाई का साथ दिया। 27 जनवरी 1935 को केन्द्रीय विधायिका के कुछ सदस्यों को सम्बोधित करते हुए, गाँधीजी ने कहा, "...अगर हिन्दू मत का पूरा निकाय अस्पृश्यता उन्मूलन के खिलाफ भी हो तो भी वह असेम्बली सरीखी एक धर्मनिरपेक्ष विधायिका को सुझाव देंगे कि उस प्रवृत्ति को बर्दाश्त न करे।" उनका विचार था कि धार्मिक मामलों में केवल अनुचित हस्तक्षेप से बचा जाना चाहिए। परन्तु इन्हीं लोगों ने, जिन्होंने धर्म से संबंधित मामलों में हस्तक्षेप करने के विषय में अंग्रेजों का विरोध किया, गौ-वध पर प्रतिबंध की माँग की। मापदण्डों में कोई सुसंगति और एकरूपता इस लिहाज से नहीं थी कि औपनिवेशिक सरकार द्वारा प्रस्तावित विधायी कदमों का विरोध हो अथवा उनकी माँग हो। हिन्दू कट्टरपंथी समूह, जो अब प्रभावी हो रहे थे, सिर्फ हिन्दू धार्मिक भावनाओं की भाषा में बात करते थे।

उठते पुनर्जागरणवाद को अप्रत्याशित स्थानों से समर्थन मिला। विवेकानन्द जो विश्व धर्म संसद में अपने प्रदर्शन के बाद अत्यंत प्रसिद्ध हो गए थे, उन्हीं में से एक थे। उन्होंने सुधार बनाम विकास व सेवा पर आधारित एक दिलचस्प तर्क प्रस्तुत किया। उन्होंने घोषणा की, कि 'मैं सुधार में विश्वास नहीं रखता; मैं विकास में विश्वास रखता हूँ। मैं स्वयं को ईश्वर के स्थान पर रखने और हमारे समाज को यह आदेश देने की दृष्टता नहीं करता : 'तुम इस तरह चलो और उस तरह नहीं।' ... इस अद्भुत राष्ट्रीय यन्त्र ने युगों-युगों काम लिया है; यह अद्भुत नदी हमारे सामने बह रही है। कौन जानता है और कहने की हिम्मत रखता है कि क्या यह अच्छी है और यह कैसे चलेगी? (के.पी. करुणाकरण, रिलिजन एण्ड पॉलिटिकल अवेकनिंग इन इण्डिया, 1969 संशोधित संस्करण में परिशिष्ट के रूप में प्रस्तुत "ट्रेडीशन्स एण्ड सोशल रिफॉर्म" में।) उनके द्वारा अपनाया जाने वाला दृष्टिकोण यह था कि समाज-सुधार आन्दोलन आभिजात वर्गवादी और भारतीय परम्परा के अननुरूप थे। इस प्रकार के विचार भारत के अन्य भागों में भी व्यक्त किए गए। बंगाल में, दूसरों के साथ-साथ, बंकिमचन्द्र चटर्जी, अपने वन्दे मातरम् के लिए मशहूर, ऐसे सुधारों के खिलाफ एक प्रमुख आवाज़ थे। भारत के अन्य भागों में ब्रह्मविद्या (थियोसोफिकल) आन्दोलन ने भी इसी प्रकार का स्थान ग्रहण किया। याद यह रखने की आवश्यकता है कि ये विभूतियाँ बहुत प्रसिद्ध राष्ट्रवादी स्वर थे और उनका प्रयास भारतीय राष्ट्रवाद को एक नया और भिन्न रूप प्रदान करना भी था।

इन सब बातों के भीतर घुसने का तात्पर्य यह दर्शाना है कि यद्यपि धार्मिक राजनीति का उदय क्षेत्र-क्षेत्र में भिन्न-भिन्न आधार लेकर हुआ था, इसने एक अचूक अन्य प्रकार की राजनीति के खिलाफ समरूप स्थिति ग्रहण कर ली थी जो राममोहन राय से आरम्भ शुरू के चरणों में प्रबल रही। पहले ही राजनीति इस अभिशंसा द्वारा पहचानी जाती थी कि भारतीय समाज उन बुरी प्रथाओं को छोड़कर स्वयं ही अपने को पुनर्जीवनयुक्त कर सकता है, जो हिन्दू समाज में अतिक्रमण कर आए हैं, और कि इनको विधान तथा कानूनन मंजूरी के बिना दूर नहीं किया जा सकता है। धार्मिक राजनीति राममोहन राय की बपौती का विरोध करने में अपने दावों

को प्रमाणित करती है। यह उस अपील के स्थान पर भारतीय परम्परा एवं हिन्दू प्रथा के विभिन्न महत्वपूर्ण विचारों की रखती है।

25.4 हिन्दू पुनर्जागरणवाद

हिन्दू पुनर्जागरणवाद की कोई सर्वमान्य विषयवस्तु नहीं है। यह व्यक्ति-व्यक्ति के साथ क्षेत्र-क्षेत्र के लिहाज से भी बहुत भिन्न-भिन्न थी। हम भारत में तीन क्षेत्रों पर नज़र डालेंगे जहाँ हिन्दू पुनर्जागरणवाद किसी न किसी रूप में उच्चरित हुआ – बंगाल, महाराष्ट्र एवं उत्तरी भारत, यथा तीन क्षेत्र जहाँ पुनर्जागरणवाद काफी लम्बा चला।

बंगाल में यह सर्वाधिक व्यापक था, साथ ही प्रचण्ड भी, परन्तु इसने असाधारण रूप से एक असामान्य रूप ले लिया। यह एक बहुत, सुमित सरकार के शब्दों में, “बौद्धिकृत पुनर्जागरणवाद” में उभरा। इसका मतलब है कि इसने ऊँची भौं वाले, मूर्धन्य प्रकार के बुद्धिजीवियों के बीच बहस का रूप ले लिया। पढ़े-लिखे लोगों के बीच यह चर्चा का विषय था। जब भी पत्रिकाएँ एवं समाचार-पत्र इसमें लिप्त होते थे, शब्द और अर्थ ऐसा होता था कि यह आम आदमी को कम ही अच्छा लगता था। बंकिमचंद्र चटर्जी व अन्य, उदाहरणार्थ, जैसे प्रमुख सदस्यों के बीच इसकी तीन मुख्य प्रेरणाएँ थीं। प्रथम, भारत की कुछ स्मरणातीत परम्पराओं पर जोर देना और पश्चिम के मुकाबले अपनी आत्मिक श्रेष्ठता सिद्ध करना, यद्यपि हमें यह स्वीकार करना पड़ता है कि हम भौतिक रूप से कमजोर हैं। दूसरे, इन शब्दों में पूछना कि भारतीय (वस्तुतः) कौन है? हर व्यक्ति जो बंगाल में रहता है आवश्यक नहीं कि बंगाली ही हो। ऐसी ही बात भारत के साथ है। इस तरीके से व्यवहार कि जो भारत में रहता है क्षेत्रीय राष्ट्रवाद है। हमें कुछ सहजगुण भी अवश्य धारण करने चाहिए और कुछ भावनाएँ-विशेष व्यक्त करनी चाहिए, जो फिर हमें एक भारतीय होने हेतु योग्यता प्रदान करेगी। यह शब्द गढ़ा नहीं गया वरन् यह उस दिशा में पहला कदम था जिसे बाद में सांस्कृतिक राष्ट्रवाद कहा जाने लगा; यथा, कोई व्यक्ति भारतीय तभी है जब वह कुछ निश्चित सांस्कृतिक अभिलक्षण दशयि। अन्ततः, असीम बौद्धिक श्रम जीज़स फ्राइस्ट के मुकाबले भगवान् श्रीकृष्ण की श्रेष्ठता दर्शाने में खर्च हो गया; अत्यंत महत्वपूर्ण रूप से एक देशभक्त भारतीय हेतु एक आदर्श भी। परन्तु विलक्षण रूप से, बंगाल में जो कुछ हुआ उसका बहुत ही थोड़ा बंगाल में विद्यमान है, बावजूद इसके कि भारत के अन्य भागों में यह गुंजायमान है, अपवाद रूप में, शायद, ‘वन्दे मातरम्’, और सिर्फ एक गीत के रूप में, न कि देशभक्ति की परीक्षा के तौर पर जैसा कि उत्तर में है।

महाराष्ट्र में धार्मिक पुनर्जागरणवाद का एक अधिक भिन्न आधार था। वहाँ निश्चित रूप से बुद्धिजीवी घटक विद्यमान था। और इसने, हालाँकि चालाकी से, एक ब्राह्मणवादी पुनर्कथन का रूप ले लिया। यह बात निम्न जातियों के बीच जागरण और दावों का प्रत्युत्तर देने के प्रयासों में सबसे अच्छी तरह देखी जा सकती है, यथा इन्होंने ज्योतिबा फुले के व्यक्तित्व से स्पष्ट और नियत आकार पाया। दूसरे, यहाँ बात बंगाल से कुछ भिन्न भी थी। धार्मिक प्रतीक-चिह्न एवं पर्व ‘सार्वजनिक’ बनाए गए आम अखाड़े में प्रेरित किए जाते थे ताकि राष्ट्रवाद के उद्देश्य से जन-समाज के संघटन पर प्रभाव पड़े। इनमें सर्वाधिक प्रसिद्ध गणेश पूजा, अब तक एक घरेलू घटना, का ‘गणेश उत्सव’ के रूप में जाने जाने वाले एक जन समारोह में रूप-परिवर्तन। आज यह भारत के कई अन्य भागों में फैल चुका है, और इस नज़रिए से साम्प्रदायिक तनावों का एक स्रोत बन चुका है जो तरीका ‘संघ परिवार’ द्वारा अपनाया जाता है। गणेश सफलता के देवता हैं और ‘परिवार’ के कार्यकर्ता यह सोचते हैं कि गणेश को विशेषाधिकार प्रदान करके वे पूरे भारत में राजनीतिक सफलता हासिल कर लेंगे। यही जन-संघटन का रास्ता बन गया और बना भी हुआ है। तीसरा रूप जो इसने अस्तित्वार किया वो था श्रीकृष्ण – एक धार्मिक प्रतिमा से भिन्न, एक पक्की ऐतिहासिक आकृति और एक महान् योद्धा शिवाजी महाराज के सम्प्रदाय का निर्माण। उसको ‘हमेशा’ मुस्लिम शासन से लड़ने वाले एक आदर्श हिन्दू व्यक्तित्व के रूप में बनाया गया। तत्कालीन और तदोपरांत भारत में स्थान लेते क्षेत्रीय जागरणों में शिवाजी निस्संदेह एक महान्

महत्त्व वाली विभूति थे परन्तु उन्हें एक हिन्दू पंथ के रूप में स्थापित करना जनचेतना का साम्प्रदायीकरण था, जो तब संघटित हो रहा था। महाराष्ट्र में धार्मिक पुनर्जागरणवाद ने जन-संघटन की दिशा में करवट ली थी, और इस बात में वह उससे भिन्न था जो बंगाल में हुआ था।

उत्तरी भारत एक और अधिक कौतुहल उत्पन्न करती तस्वीर प्रस्तुत करता है। यहाँ अधिकतर बुद्धि-संबंधी बहसों समाज में फैलीं और जनप्रिय संघर्ष-विषयों के मुद्दे बन गईं और जो संघर्ष-विषय के मुद्दे बने उनमें से अधिकांश लोकप्रिय प्रथाओं व आस्थाओं के निकट थे। उत्तर भारत में दो भिन्न रूपान्तर उभरे। एक सिन्धु-गंगाई मैदानों में और दूसरा उत्तर-पश्चिमी भारत में, जो अब पंजाब, हरियाणा व पश्चिमी उत्तर-प्रदेश हैं। सिन्धु-गंगाई मैदान में वे मुद्दे थे जिनके माध्यम से हिन्दू पुनर्जागरणवाद ने अपना हक कायम किया, यथा गौ-वध तथा देवनागरी लिपि में हिन्दी से जुड़े मुद्दे। ज्ञान पाण्डेय ने "मोबिलाइजिंग दि हिन्दू कम्युनिटी" तथा "हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्तान" (उनकी *कॉन्स्ट्रक्शन ऑफ़ कॉम्यूनलिज़्म इन कॅलोनिअल नॉर्थ इण्डिया*, 1990 में दोनों अध्याय 5 व 6 के रूप में) में दर्शाया है कि दैनिक जीवन में गाय और मुसलमानों द्वारा उसकी हत्या, और खासकर बकरीद के मौके पर, हिन्दुओं की भावनाओं को भड़काने तथा मुसलमानों को गायों का वध करने से रोकने के लिए आन्दोलनार्थ उन्हें संघटित करने के प्रयासों ने मुद्दों का रूप ले लिया। इसी तरीके से हिन्दी व देवनागरी, यथा फ़ारसी लिपि में उर्दू के विरोध का मुद्दा जनचेतना के तहत हिन्दू-मुस्लिम विवादों के विषय बन गए। उत्तर-पश्चिमी भारत में इस प्रकार के मुद्दे अन्य मुद्दों के साथ एक अलग तरीके से उठाए गए। यही था स्वामी दयानन्द के 'आर्य समाज' आन्दोलन का उदय और प्रसार। एक स्तर पर यह एक "आपत्तिकारक आन्दोलन" था परन्तु दूसरे स्तर पर यह हर उस चीज़ के खिलाफ़ एक निन्दात्मक प्रहार भी था जो उचित रूप से 'वेदों' से मेल न खाता हो। इसने सफलतापूर्वक अनेक हिन्दू प्रथाओं, जैसे बहुदेववाद, मूर्तिपूजा, एवं जन्म पर आधारित जाति, पर एक तीखा प्रहार किया तथा अन्तर्जातीय एवं विधवा-पुनर्विवाह व अन्य ऐसी ही प्रथाओं की वकालत की। दयानन्द ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'सत्यार्थ प्रकाश' में गैर-वैदिक धर्मों जैसे इस्लाम, ईसाइयत, सिखधर्म, आदि प्रत्येक पर एक-एक अध्याय लिखते हुए, एक निन्दात्मक प्रहार भी किया, और इस्लाम व उसके पैगम्बर पर प्रहार सर्वाधिक निन्दापूर्ण था। उनके अनुयायी तदोपरांत सिखों व मुसलमानों, इस क्षेत्र के दो अन्य प्रमुख धर्मों, के साथ अनावश्यक शास्त्रार्थ में लग गए। कैनेथ जोन्स अपनी पुस्तक 'आर्यधर्म में दशाति हैं कि किस प्रकार यह आन्दोलन तेजी से पंजाब में, खासकर खत्री जैसी व्यापारी जातियों के बीच, फैल गया। प्रमुख धर्मान्तरित व्यक्ति थे लाला लाजपत राय (विख्यात राष्ट्रवादी नेता), लाला हंस राज, लाला मुन्शीराम (बाद में स्वामी श्रद्धानन्द) व अन्य कई। तब से ही, उसने विशेष रूप से दो कार्यों पर ध्यान केन्द्रित किया — एंग्लो-वैदिक विद्यालय खोलना और एक 'शुद्धि' अभियान — उन लोगों का हिन्दू धर्म में फिर से धर्मान्तरण जिन्होंने अन्य धर्मों को अपना लिया था। यह परवर्ती कार्यक्रम जो मुसलमानों के बीच तंज़ीम और तबलीग कहे जाने वाले कामों से जुड़ा था, साम्प्रदायिक माहौल को खराब करने में बहुत सहायक था।

25.4.1 राजनीतिक असंतोष में बढ़ोतरी

धार्मिक पुनर्जागरणवाद व सांस्कृतिक राष्ट्रवाद पर आधारित प्रकट होती राजनीतिक खीज ने विवेकानन्द व अरबिन्दो जैसे अत्यंत सम्मानित व विवेकी विचारकों के लेखों से, एक अखिल भारतीय स्तर पर, सशक्त बौद्धिक प्रबलन व नैतिक वैधीकरण प्राप्त कर लिया। उनके कैनवास विशाल थे, क्षितिज बहुत व्यापक, और कार्य बहुत बड़ा। दोनों ही के अनुसार भारत के पास विश्व के लिए एक दूतकार्य है, भौतिकवादी पश्चिम को भारत के महान् आध्यात्मिक संसाधन उपलब्ध कराना और इस प्रकार अपनी दरिद्र संभ्यता को सम्पन्न बनाना। इस दूतकार्य के अन्तर्गत उन्होंने प्राचीन भारत के गौरव, भारतीय धर्म व दर्शन का स्मरणातीत्य, 'वेदान्त' की श्रेष्ठता, भारतीय सहिष्णुता की अनुपम प्रकृति, इत्यादि का स्तुतिपूर्वक आह्वान किया। यह सब अब भी भली-भाँति चल सकता है। परन्तु तुलना करने की एक प्रवृत्ति विद्यमान है, खासकर अन्य धर्मों के साथ-विवेकानन्द, हिन्दू-वेदान्तिक परम्परा में उच्चरित। वह हिन्दू सहिष्णुता की मुस्लिम "असहिष्णुता" के साथ तुलना करने और मुस्लिम धर्म की पूरे विश्व में मांसार्थ पशुवध से तुल्यता दिखाने, तथा इस्लाम के पैगम्बर को यह मानने के बड़े

आदी थे कि उन्होंने विश्व की भलाई कम थी और हानि अधिक पहुँचाई (कॉलेक्टिव वर्क्स, खण्ड 1)। अरविन्दों अक्सर भारतीय राष्ट्रवाद की तुल्यता सनातन धर्म से दिखाते थे। लघुतर हाथों में, अंतर-साम्प्रदायिक संबंधों के लिए बहुत हानिकारक तथा बदतर होते साम्प्रदायिक तनावों को बिगाड़ने में ये व ऐसे ही अन्य कथन सिद्ध हुए। मुसलमानों के साथ जो हो रहा था उससे जोड़कर देखे जाने पर, इन सब बातों का भारत के लिए अनर्थकारी परिणाम हुए।

ऊपर वर्णित हिन्दू परम्परा के भीतर व्याख्यात्मक परिवर्तन मुसलमानों के बीच भी प्रतिरूप रखते थे, हालाँकि ये एक भिन्न प्रकार थे। मुस्लिम धार्मिक सम्प्रदाय के भीतर परम्पराएँ नव-परम्परानिष्ठा एवं “आधुनिकतावादी” दोनों द्वारा हस्तक्षेपों तथा पुनर्क्रियाओं के अधीन थीं, ये दोनों ही बिल्कुल भिन्न कारणों को लेकर राष्ट्रीय विकासों से सम्प्रदाय को निकाल बाहर करने का प्रयास कर रहे थे। चाहे जो हो, ये हस्तक्षेप मुस्लिम सम्प्रदाय को अलग करने में कामयाब रहे।

25.5 इस्लामिया दृष्टिकोण

मुसलमानों के बीच हस्तक्षेप, मोटे तौर पर 19वीं शताब्दी के पूर्वार्ध से आरम्भ, भी उनके लिए कोई एकरूप लक्षण नहीं रखता था। भारत में मुसलमानों के दृष्टिकोण से, इनमें से कुछ अधिकतर आदिम विविधताओं वाले पारम्परिक अथवा रूढ़िवादी इस्लाम में अवसर-ग्रहण को दशति थे। बरेली के शाह वलीउल्लाह अथवा सय्यद अहमद तथा उनके कम जाने जाने वाले अनुयायी जैसे बंगाल में फरैज़िस के हाजी शरीयतुल्लाह अथवा फ़ैजाबाद के मौलवी अथवा जौनपुर के मौलवी करामत अली, सभी 19वीं सदी के पूर्वार्ध में, वहाबी आन्दोलन से प्रभावित थे और उन्होंने अपना ध्यान मुसलमानों के बीच प्रचलित “अन-इस्लामिक” प्रथाओं पर केन्द्रित किया, जैसे एक-दूसरे के त्यौहारों में शरीक होने की लोक प्रथाएँ, अभिवादन एवं शुभकामनाओं के तरीके, आसपास के हिन्दू लोकाचार से प्रभावित आम रीतियाँ व शिष्टाचार, और सर्वोपरि, शिर्क (अन्य शक्तियों को अल्लाह के साथ जोड़ना) के रूप में संतों की पूजा, इत्यादि। वे मुसलमानों, खासकर नए धर्मान्तरितों का, अवशिष्ट हिन्दू प्रथाओं से उद्धार चाहते थे और उसके स्थान पर “बाह्य प्रभावों” से अदूषित इस्लाम का एक शोधित रूप लाना चाहते थे। हस्तक्षेप का दूसरा रूप बाद में 19वीं सदी के उत्तरार्ध में देखने में आया। इस दृष्टिकोण के सर्वोच्च प्रतिनिधि थे सर अहमद खान। अतीत की ओर किसी प्रत्यावर्तन और पैगम्बर मोहम्मद व उनके निकट सहयोगियों के युगोन्मुखक्षेपी व्याख्याओं की बजाय, सर सैय्यद का दृष्टिकोण एक मुस्लिम सम्प्रदाय संबंधी था, ब्रिटिश उपनिवेशवाद के खिलाफ उठते संघर्ष से दूर रहकर तर्क व विज्ञान तथा आधुनिक युग की माँगों से सामञ्जस्य रखकर एक इस्लामिक अवधारणा के साथ तेजी से आधुनिकीकरण लाना।

भिन्नताएँ चाहे जो हों, जो कि ऐतिहासिक काल, आन्तरिक दबाव तथा अभिप्रायों अथवा प्रयोजनों के लिहाज से पहचानी जा सकती हैं, ऊपर से हस्तक्षेपों के कुछ सामान्य अभिलक्षण व परिणाम भी देखने में आते हैं। ज़्यादा सुप्रकट अभिलक्षण हैं, प्रथम, इस्लाम की रक्षार्थ अदालत अथवा अभिजात-तंत्र पर भरोसा करने अथवा उससे गुहार करने की बजाय सीधे लोगों को सम्बोधित करने की दिशा में एक सुविचारित और सुनियोजित कार्रवाई, जैसा कि, उदाहरण के लिए, स्वधर्मनिष्ठा ने औरंगज़ेब और दारा शिकोह के बीच संघर्ष में किया। कुछ ने सम्प्रदाय-विशेष में टिकाऊ संचार माध्यम उपलब्ध कराने के लिए मुस्लिम भद्रजन और छोटे तबके के मुसलमानों के बीच दरार पाटने का काम किया। दूसरे, इन हस्तक्षेपों ने राजनीतिक अपीलों हेतु पढ़े-लिखों को सम्बोधित धर्मतात्त्विक तर्कों के स्थान से हटकर व्यापक विषयों पर कुछ-कुछ लोगों की लामबन्दी का रूप लेने का प्रयास किया। तीसरे, इस्लाम को आधार मानकर उसकी एक “अधिक स्वास्थ्य-प्रद” व्याख्या के पुनर्निर्माण का सुसंगत प्रयास किया जा रहा था, जिस पर मुसलमानों को मिली नई पहचान कायम रह सके। यह समझना गलत नहीं हो सकता कि ये दो प्रवृत्तियाँ “परम्परावादी” एवं “आधुनिकतावादी” के रूप में इन हस्तक्षेपों के कारण ही उत्पन्न हुईं। दिलचस्प रूप से, उन्होंने राष्ट्रवादी आन्दोलन की ओर पूरी तरह उल्टा रुख अपनाया

ठीक जबकि मुसलमानों को एक भिन्न सांस्कृतिक सम्प्रदाय के रूप में देखा जा रहा था। परम्परावादियों ने राष्ट्रीय आन्दोलन का समर्थन किया जबकि आधुनिकतावादियों ने मुसलमानों को स्वतंत्रता आन्दोलन से तटस्थ रहने की दलील दी।

इन सब बातों में शामिल विवादास्पद परिणाम गौरतलब हैं। जबकि ये घटनाएँ मुस्लिम समुदाय को धीरे-धीरे बाकी समाज से दूर खींच रही थीं, ये उन्हें धीरे-धीरे एक राष्ट्र के रूप में ऐसे सक्रिय भागीदारों के तौर पर जो अपनी बात सुनी जाने पर आमादा थे, जन रंगमंच पर भी ला रही थीं। ये लोग स्वयं को हिन्दुओं से अलग करते हुए, सार्वजनिक कार्यक्षेत्र में सक्रिय होते जा रहे थे। यह एक महत्वपूर्ण घटना थी। यद्यपि, यह स्वयं में बंटवारे का कोई कारण नहीं था, जहाँ राजनीतिक चंगाई तथापि संभव थी, परन्तु यह फिर भी एक अंशदायी कारक बन गया।

25.6 धार्मिक राजनीति : एक पर्यवेक्षण

चलिए, ऊपर वर्णित हिन्दू सम्प्रदायों के बीच धार्मिक राजनीति के विषय पर वापस आते हैं। विभाजन के संकट के बाद, अब हम भारत में हैं जहाँ हिन्दूकुल जनसंख्या का 83 प्रतिशत हैं। दूसरा बड़ा धार्मिक समुदाय मुसलमानों का ही है जो जनसंख्या के लगभग 11 प्रतिशत का निर्माण करते हैं। हिन्दुओं के बीच होने वाली घटनाएँ भारत के भवितव्यार्थ इसीलिए अन्य धार्मिक सम्प्रदायों के बीच होने वाली घटनाओं की बजाय अधिक मायने रखती हैं। ऊपर चर्चित अनेक घटनाओं एवं व्याख्यात्मक परिवर्तनों की, एक तीन या चार निष्कर्षों में सूक्ष्मदृष्टि हमारी वर्तमान राजनीति के समझने के लिए आवश्यक है।

इनमें प्रथम था हिन्दू समुदाय, धर्मशास्त्रीय समग्रता में संजोयी गई शिक्षाओं के एक निकाय, को ठीक उसी प्रकार जैसे अन्य धर्म हैं, अखंड एकता प्रदान करना। हिन्दुत्व को अस्थायी सीमाओं वाले एक धर्म बतौर किसी भी विपत्ति की सूरत में एक उत्तरदायित्व के रूप में देखा जाता था। दूसरे, हिन्दुत्व को मांसल बल प्रदान करने का एक संगठित प्रयास भी होता था। पुनर्जागरणवाद के आलोक में, सिर्फ गाँधीजी को छोड़कर, सभी धार्मिक विचारक यह महसूस करते थे कि हिन्दुत्व दुर्बल व निर्बल है और इसी कारण इस पर पहले मुसलमानों द्वारा बलपूर्वक अधिकार कर लिया गया और उसके बाद अंग्रेजों द्वारा उसे उपनिवेश बना लिया गया। इसको, इसीलिए, बलिष्ठ बनाने की आवश्यकता है। अन्यथा भारत पर बाहरी शक्तियों एवं आंतरिक शत्रु का खतरा मंडराता ही रहेगा। इस दृष्टिकोण ने ऐसे अनेक विचारकों को संगठित किया, जैसे बंकिमचंद्र, विवेकानन्द, दयानन्द सरस्वती व अन्य कई। भारत की एकता व अखण्डता हिन्दुओं की एकता व बलिष्ठता में ही समझी गई। हिन्दू इतिहास को मुसलमानों के आगमन से पिछले हजारों वर्षों से भी अधिक से, पराजयों व दुर्भाग्य की एक कथा के रूप में देखा गया। उससे पूर्व का काल था महान् उपलब्धि का काल, जो गौरवपूर्ण था। यह हर व्यक्ति का ही कर्तव्य है, तीसरा अभिलक्षण प्रस्तुत है, जिसने हर व्यक्ति को इन विचारकों से जोड़ा, कि उस सुनहरे युग को फिर से लाए। सिर्फ इसे लाने के उनके साधनों में फर्क था। राजनीतिक रूप से वे एक थे परन्तु सामरिक रूप से बहुत अधिक भिन्न।

पुनर्जागरणवादी विचार में निहित अन्तिम महत्वपूर्ण लक्षण था हिन्दुत्व के उन अभिलक्षणों की गहरी आशांका जो अन्य कई विवेकी हिन्दुओं, जैसे गाँधी अथवा टैगोर उदाहरणार्थ, के अनुसार हिन्दुत्व की सुन्दरता व शक्ति थे। उसकी अपनी विविधता और प्रवर्तनकारी वैविध्य को उत्पन्न करने की क्षमता ही काफी थी। किसी अन्य धर्म के पास इतना सामर्थ्य नहीं था। उपर्युक्त विचारकों व आन्दोलनों, जिन पर हमने पहले विचार किया, का हिन्दुत्व संबंधी इस नैतिक गुण विशेष के विषय में गहरा अविश्वास था। वे इसीलिए स्थानीय मतभेदों, क्षेत्रीय, विसामान्यताओं, निगूढ़ पूजा-पद्धतियों अथवा 'भक्ति' आन्दोलनों के प्रति सदिग्धचित्त थे। इनको दुर्बलीकारक के रूप में देखा जाता था और इसीलिए इनसे परहेज़ और लड़कर तय किया जाना था। यह अपने चरम बिन्दु

पर सावरकर के हिन्दुत्व (1923 में रचित, 'संघ परिवार' की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पुस्तक) में पहुँचा जिसमें सिद्धांत स्वयं सदेहास्पद है और उसके स्थान पर प्रजाति, वंश और इस पावन धरती - 'पुण्य भूमि' का साक्षा इतिहास है। इस वंश और परम्परा की साझेदारी से बाहर के लोग, जैसे बाहरी देश की धरती के धर्मो वाले मुसलमान और ईसाई, भारत को कभी भी पूरी निष्ठा प्रदान नहीं कर सकते; वे भारत को कभी अपनी 'पुण्य भूमि' नहीं मान सकते। मुसलमान इस प्रकार भारत में एक सदेहास्पद विद्यमानता है। यह इसीलिए, निष्कर्ष निकलता है कि एक अच्छा हिन्दू बनने के लिए, हमें मुसलमानों से लड़ना चाहिए और ईसाइयों से भी। विचारणीय प्रश्न तब यह है : क्या सांस्कृतिक राष्ट्रवाद साम्प्रदायिक नहीं?

हिन्दुत्व जो करता है वो है अल्पसंख्यकों की नकारात्मक समरूपता के साथ हिन्दुओं की प्रत्यक्ष पहचान का सामना करना। अब हम पाते हैं कि हिन्दू 'अहं' 'अन्य' की शाश्वत संघर्षशील विद्यमानता में खड़ा है। सिर्फ 'अन्य' की भलाई करके ही यह होगा कि 'अहं' अपनी प्रयोगक्षमता का अहसास करे। यही वह बात है जिसमें धार्मिक राजनीति की पराकाष्ठा निहित है। यही है जो कुछ भी अन्ततः हिन्दुत्व है।

यह सब अभी तक कल्पना के क्षेत्र, विचार की दुनिया में ही है। कोई इसे कैसे वास्तविक, आज की राजनीति बनाता है? कल्पित और वास्तविक के बीच जो खड़ा है वो है संगठन, ऐसा हेडगेवार - राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ (आर.एस.एस.) के संस्थापक सोचते थे। हेडगेवार ने वी.डी. सावरकर द्वारा हिन्दुत्व के प्रकाशन के दो वर्ष पश्चात्, 1925 में नागपुर में आर.एस.एस. की स्थापना की। इस शताब्दी के आरम्भ से ही संगठन निर्माण के अनेक प्रयास किए गए। सबसे पहले थीं आर्य समाज, जिसने अपनी स्थापना 1875 में की, की 'प्रतिनिधि सभाएँ'। बीसवीं सदी के आरम्भ में 'हिन्दू सभा' की स्थापना हुई। बाद में 1915 में 'हिन्दू महासभा' बनी। प्रयास हमेशा हुए परन्तु कोई बड़ी सफलता हाथ नहीं लगी।

आर.एस.एस. ने महाराष्ट्र के एक प्रान्तीय कस्बे में, जहाँ अब तक उसका मुख्यालय है, एक सन्तुलित शुरुआत की। यह सहज रूप से ही बेजोड़ और प्रवर्तनकारी थी। इसका संगठनात्मक सिद्धांत तीन चीजों पर आधारित था। एक युद्धप्रिय दृष्टिकोण प्रदान करने के लिए एक वर्दी (एक निक्कर और कमीज़), एक अभिवादन (आर. एस.एस. को, न कि राष्ट्रीय ध्वज को) और एक कवायद (लाठियों के साथ) आवश्यक है।

इसके बाद की जानी होती थी एक स्वयंसेवक के साथ बात, उन विषयों पर जो उसके द्वारा 'देशभक्तिपूर्ण' कहे जाते थे। परन्तु इसकी तह में छुपा एक महत्त्वपूर्ण विचार यह था कि यह आपके जीवन का एक नियमित हिस्सा होना चाहिए। सामान्य संवर्ग, सेवक राष्ट्र के हित में एक सैनिक होता है। सेना की भाँति, कठोर पदानुक्रमिक व्यवस्था में, वह अनुशासनबद्ध होता है। यद्यपि शुरुआत में यह हास्यास्पद लगा, इसके दूसरे तानाशाह, गोवलकर के अधीन रहकर इसको पर्याप्त सफलता मिली। इससे सम्बद्ध अनेक संस्थाएँ हैं जैसे विश्व हिन्दू परिषद्, बजरंग दल, दुर्गावाहिनी, हिन्दू तथा मानिनी। पहले अनेक वर्षों तक हिन्दू महासभा के साथ काम करने के बाद आर.एस.एस. ने अपना एक राजनीतिक दल बना लिया - जनसंघ। 1980 में, भारतीय जनता पार्टी (भाजपा) के रूप में इसका पुनर्जन्म हुआ, जो अब 'राष्ट्रीय लोकतांत्रिक गठबंधन', देश में शासक दल, नामक एक गठजोड़ में शामिल है।

25.7 सारांश

इस इकाई में आपने धार्मिक राजनीति के अर्थ व महत्त्व तथा उसके विविध दृष्टिकोणों का अध्ययन किया। यह अपनी पृष्ठभूमि के रूप राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ, 19वीं शताब्दी के अन्तिम दशकों से धीरे-धीरे जन्मी। इसका आरम्भ सामाजिक सुधारों के साथ किया गया और उसने तदोपरान्त विद्वानों व राष्ट्रवादियों का एक-सा ही समर्थन पाया, यद्यपि उनके तरीके महत्त्वपूर्ण रूप से भिन्न थे। हिन्दू पुनर्जागरणवाद ने अपनी जड़ें बंगाल,

महाराष्ट्र और उत्तर-भारतीय क्षेत्र में जमायीं। राष्ट्रवादी नेताओं ने अपनी प्रेरणाएँ धार्मिक प्रतिमाओं व पूजा-पद्धतियों एवं वेदों से प्राप्त कीं; उन्होंने अपनी-अपनी आस्थाओं से संबंधित सुधारों व कर्मकाण्डों की वकालत करते हुए अपने-अपने समुदायों की भावनाओं को भड़काया। इस्लामिक पहलू ने अपने स्रोत इतिहास के अतीत से निष्कर्षित किए और इस्लाम की एक अधिक स्वास्थ्यप्रद व्याख्या को कार्यरूप देकर सम्प्रदाय-विशेष की एकता का प्रयास किया। धीरे-धीरे इन मतभेदों ने विवादास्पद पहलुओं की ओर प्रवृत्त किया; तिस पर भी धार्मिक समुदायों ने एक प्रमुख भूमिका निभानी शुरू कर दी है, जिससे धार्मिक राजनीति का मसला एक सतत दृश्यघटना बनता जा रहा है।

25.8 अभ्यास प्रश्न

- 1) धर्म व राजनीति के विषय से धार्मिक राजनीति किस प्रकार भिन्न है?
- 2) धार्मिक राजनीति के सारभाग को स्पष्ट करें।
- 3) धार्मिक राजनीति के विकास पर चर्चा करें।
- 4) हिन्दू पुनर्जागरणवाद से आप क्या समझते हैं?
- 5) धार्मिक राजनीति के इस्लामिक दृष्टिकोण पर एक टिप्पणी लिखें।